दैनिक ट्रिब्यून (चंडीगढ़) - 8 JUN 2004

सुरक्षा परिषद : स्थायी सीट के दावों में भारत



इस पूरे वाकये में भारत और ब्राजील की हालत अन्य देशों के मुकाबले ज्यादा डांवांडोल है। कहने के लिए भारत के निर्गुट आंदोलन में सहयोगी देश 113 हैं, लेकिन चूंकि यह एक आंदोलन है, मंच या गुट नहीं, इसलिए भारत किसी भी देश से समर्थन की उम्मीद नहीं कर सकता। जबकि इसकी तुलना में पाकिस्तान और इंडोनेशिया की स्थिति ज्यादा मजबूत है, क्योंकि मुस्लिम देश अंध-समर्थन में भरोसा रखते हैं और संयुक्त राष्ट्र में मुस्लिम देशों के 40 सदस्य हैं।

विश्व मंच

मयंक शेखर

युक्त राष्ट्र महासचिव कोफी अन्नान इस बात पर र-बार जोर दे रहे हैं कि सुरक्षा परिषद के सदस्यों की ख्या बढ़ायी जानी चाहिए और खासकर स्थायी सदस्यों वैसे देशों को ज्यादा से ज्यादा प्रतिनिधित्व मिलना ाहिए जिन्हें किसी न किसी रूप में असंतोष है कि ार्थिक व सैनिक दृष्टि से कमजोर होने के कारण नकी आवाज अनसुनी कर दी जाती है।

ऐसा कहने वाले कोफी अन्नान पहले महासचिव नहीं । इनके पूर्ववर्ती बुतरस घाली ने भी यह मामला उठाया ा। 1997 में तो मलेसियाई राजनयिक इस्माइल रजाली ने सुरक्षा परिषद में सुधार लाने के लिए महासभा को ओर से नियुक्त कार्यकारी गुट के अध्यक्ष के रूप में कुछ उपाय सुझाए थे, जिनमें सबसे पहला था चुनाव। किसी भी ऐसे शक्तिशाली स्थायी सदस्य देश ने इस ओर ध्यान नहीं दिया, जिन्हें 'वीटो' का अधिकार प्राप्त है। बुतरस घाली बोल-बोलकर चले गए और अब कोफी अन्नान ने रजाली के सुझावों को ठंडे बस्ते से निकालकर फिर से जिंदा किया है, जिससे यह विषय एक बार फिर चर्चा में आ गया है।

कोफी अन्नान का यह महसूस करना स्वाभाविक है कि इस विश्व संगठन में कमजोर और गरीब देशों की सदस्यता सिर्फ कहने भर के लिए है, क्योंकि वे स्वयं अफ्रीका के हैं, जहां के देश 21वीं सदी में धनाढ्य देशों की दान-दक्षिणा पर जीवित हैं। इसलिए उन्होंने चुनाव के जरिये सुरक्षा परिषद के स्थायी सदस्यों की संख्या बढ़ाने के प्रस्ताव को सही माना है।

स्थायी सदस्यता के प्रबल दावेदारों में भारत भी है। 113 सदस्यीय गुटनिरपेक्ष आंदोलन के प्रणेता के रूप में भारत की अंतर्राष्ट्रीय मंच पर साख है, सुरक्षा परिषद के स्थायी सदस्यों की संख्या बढ़ाने की सबसे ज्यादा वकालत करने वाला देश भी यही है, पर बड़े अफसोस की बात है कि इस बिंदु पर विश्व के सबसे बड़े लोकतंत्र को कहीं से समर्थन नहीं है। अमेरिका और ब्रिटेन जैसे देशों के प्रतिनिधि जब दिल्ली आते हैं तो भारत के दावे को सही जरूर ठहराते हैं, लेकिन सुर्खियों में छपने वाले बयान सिर्फ वहीं तक सीमित होकर रह जाते हैं।

पाकिस्तान अपने दावे को कमजोर नहीं मानता, जापान का दावा और भी मजबूत है, क्योंकि संयुक्त राष्ट्र का खर्चा चलाने में उसका पर्याप्त योगदान है। सबसे ज्यादा मुस्लिम आबादी वाला देश इंडोनेशिया, अफ्रीकी देशों का प्रतिनिधित्व करने वाला दक्षिण अफ्रीका, नाइजीरिया, मिस्र के भी दावे हैं। इन देशों का पक्ष हल्का पड़ने की वजह सिर्फ यही नहीं है कि बड़े देश इन्हें अपने समकक्ष देखना नहीं चाहते, बल्कि इनकी आपसी प्रतिद्वंद्विता और एक-दूसरे की टांग खिंचाई की प्रवृत्ति भी प्रतिकूल भूमिका निभा रही है।

आज म्यांमार में जनतंत्र बहाली के लिए संयुक्त राष्ट्र के दूत के रूप में दौड़धूप कर रहे इस्माइल रजाली ने 1997 में 24 सदस्यों के सुरक्षा परिषद का प्रस्ताव दिया था और उन्होंने बड़ी सूझबूझ से देशों का चयन इस हिसाब से किया ताकि ताकतवर देशों के अहम को ठेस न पहुंचे। उनके अनुसार चार अस्थायी सदस्य अफ्रीका, एशिया, पूर्व यूरोप, लातीनी अमेरिका और कैरीबियाई देशों के लिए जाएं। नये स्थायी सदस्यों में अफ्रीका, एशिया, लातीनी अमेरिका और कैरीबियाई देशों से एक-एक हों और दो बड़े औद्योगिक देशों से आएं। उस व्यवस्था में एक कड़ी यह जोड़ दी कि नये स्थायी सदस्यों को वीटो का अधिकार नहीं होगा जो संयुक्त राष्ट्र के गठन के समय से उन देशों को प्राप्त है, जिन्हें ताकत की बदौलत स्थायी सीट मिली थी। लेकिन उसके बावजूद ये प्रस्ताव काग़ज़ों में ही रह गए। छह साल गुजर जाने के बाद कोफी अन्नान ने इस मुद्दे को फिर से जिंदा किया है। गत सितंबर में महासभा के सत्र को संबोधित करते हुए उन्होंने चेतावनी दी कि अगर सदस्य देशों को गंभीर मसलों के निर्णय में भागीदारी नहीं मिली तो यह असंतोष बढ़ते-बढ़ते एक दिन संयुक्त राष्ट्र के अस्तित्व पर खतरा पैदा कर सकता है।

मतभेद यहां अटका है कि स्थायी सीटों की संख्या कितनी हो, सदस्यता की श्रेणी कैसे तय की जाए और वीटो का अधिकार न मिलने के बावजूद किस तरह ऐसी व्यवस्था कायम की जाए ताकि नये सदस्यों का अति महत्वपूर्ण मामलों में भी 'से' हो। पहले तो इसी पर आम राय नहीं बन पा रही है कि चुनाव के जरिए स्थायी सदस्यों का चयन किया जाए अथवा नहीं। अगर चुनाव नहीं तो फिर दूसरा कौन-सा तरीका अपनाया जाए। इस सबकी जड़ में मुख्य कारण यह है कि जिन बड़े देशों ने संयुक्त राष्ट्र की नकेल थाम रखी है, उनकी नीति है कि सदस्यता विस्तार को ज्यादा से ज्यादा समय तक टाला जाए। अभी तक इन देशों ने यह विषय विचारयोग्य भी नहीं समझा है।

अब देखते हैं कि अगर भविष्य में कभी ऐसा संभव हुआ तो उस स्थिति में भारत कहां रहेगा, जिसका पक्ष कई देशों के मुकाबले कमजोर पड़ रहा है। पिछले वर्ष जून में तत्कालीन उपप्रधानमंत्री लालकृष्ण आडवाणी ने वाशिंगटन से लौटकर कहा— 'अमेरिका के राष्ट्रपति जार्ज डब्ल्यू. बुश ने मुझसे कहा है कि 'भारत को स्थायी सीट मिलनी चाहिए।' लेकिन आज की तारीख तक बुश ने इस सिलसिले में कोई पहल नहीं की, जिनका हर कदम मायने रखता है। आडवाणी जी सत्ता से बाहर हो गये, शायद बुश भी इसी वर्ष होने वाले चुनाव में हार जाएं, लेकिन यह मामला यहां से आगे बढ़ने की उम्मीद नजर नहीं आती। भारत को ब्रिटेन, रूस और फ्रांस से समर्थन मिलने की बहुत दिनों से आशा लगी है। स्थायी सीट पाने के पीछे काम कर रहे निहित सैनिक व आर्थिक स्वार्थ से प्रेरित पेंच इन देशों को भारत के लिए खुलकर सामने आने से रोक रहे हैं। भारत की टांग खींचने वाले देशों में पड़ोसी ही अव्वल हैं। चीन निर्गुट आंदोलन का समर्थक है, लेकिन वह नहीं चाहता कि भारत की पोजीशन उसके बराबर हो जाए। मुस्लिम देशों के संगठन से जुड़े होने के कारण पाकिस्तान का दावा भारत से ज्यादा मजबूत है। जापान को बड़े औद्योगिक देशों का समर्थन है। अब जर्मनी की हैसियत जापान से भी ऊंची हो गयी है। पूर्व अमेरिकी राष्ट्रपति बिल क्लिंटन ने जापान और जर्मनी की खुलकर वकालत की थी, ब्रिटेन व फ्रांस का झुकाव भी इन्हीं देशों की ओर ज्यादा है।

स्थायी सीट के लिए हर देश के अलग-अलग पैमाने हैं जो उन देशों के पैमाने से मेल नहीं खाते, जिनके पास वीटो का अधिकार है। असहमति का सबसे बड़ा कारण यही विशिष्ट अधिकार उभरकर सामने आया है और अधिकांश देशों की राय में वीटो की मौजूदगी ही सदस्यों के बीच असंतोष पैदा कर रही है। इस राय के प्रबल पक्षधर जापान और जर्मनी हैं, जिसकी पुष्टि लगभग सभी सदस्य देशों ने की है। इन देशों का यह कहना उचित है कि वीटो वाले देशों ने हमेशा इस अधिकार का इस्तेमाल अपने तथा उन देशों के हित के लिए किया है जो उनके लगुवे-भगुवे हैं। इस्राइल के खिलाफ सर्वसम्मति से पारित संयुक्त राष्ट्र प्रस्ताव का कार्यान्वयन वीटो द्वारा रोककर अमेरिका ने कई बार इस अधिकार का दुरुपयोग किया है। अप्रैल के अंत में रूस ने साइप्रस को सुरक्षा की गारंटी देने वाले एक प्रस्ताव को 'वीटो' कर दिया, जिस प्रस्ताव को 14 यूरोपीय देशों का समर्थन था।

इस्माइल रजाली ने स्थायी सदस्यता के दावों पर विचार करने के लिए आहत महासभा के विशेष सत्र में (1997) पहली कसौटी यही रखी थी कि वीटो को समाप्त कर दिया जाए और सारे सदस्यों को समान अधिकार हो। लेकिन दबाव में आकर उन्हें यह वापस लेना पड़ा। आज जब सभी सदस्य इस बिंदु पर एकमत हैं तो निर्णायक भूमिका निभाने वाले बड़े देशों ने ऐसा रुख अपना रखा है मानो यह कोई विचारणीय मुद्दा ही न हो।

इस पूरे वाकये में भारत और ब्राजील की हालत अन्य देशों के मुकाबले ज्यादा डांवांडोल है। कहने के लिए भारत के निर्गुट आंदोलन में सहयोगी देश 113 हैं, लेकिन चूंकि यह एक आंदोलन है, मंच या गुट नहीं, इसलिए भारत किसी भी देश से समर्थन की उम्मीद नहीं कर सकता। जबकि इसकी तुलना में पाकिस्तान और इंडोनेशिया की स्थिति ज्यादा मजबूत है, क्योंकि मुस्लिम देश अंध- समर्थन में भरोसा रखते हैं और संयुक्त राष्ट्र में मुस्लिम देशों के 40 सदस्य हैं। स्थायी सीट के आधार के लिए भारत विश्व की सबसे बड़ी लोकतांत्रिक व्यवस्था का ढिंढोरा पीट रहा है, पाकिस्तान संयुक्त राष्ट्र प्रस्तावों के कार्यान्वयन को कसौटी मान रहा है, चीन और अन्य विकसित देश शांति सेना में ज्यादा से ज्यादा योगदान को आधार मान रहे हैं। कसौटियों की इस विभिन्नता में भारत के नेतृत्व में निर्गुट आंदोलन में जुड़े देशों के सुरक्षा परिषद की संख्या 15 से बढ़ाकर 26 करने के प्रस्ताव को अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस और यहां तक कि जापान और जर्मनी ने भी धता बता दिया।

सन् 1945 में विश्वयुद्ध के विजेता देशों की मनमानी के आधार पर गठित संयुक्त राष्ट्र के सदस्यों की संख्या मात्र 51 थी, जिनमें सुरक्षा परिषद में 11 देश थे— पांच वीटो वाले स्थायी और छह अस्थायी सदस्य थे, जिनकी सीट सिर्फ दो साल के लिए थी। आज संयुक्त राष्ट्र के सदस्यों की संख्या बढ़कर 191 हो चुकी है, लेकिन सुरक्षा परिषद की सदस्य संख्या 15 ही है। बड़ी जद्दोजहद के बाद 1965 में 11 से बढ़ाकर 16 किया गया। अस्थायी सदस्य 10 हैं, जिनकी उन पांच स्थायी सदस्यों के आगे कुछ चल नहीं पाती जो गठन के समय तो शक्तिशाली थे ही, आज भी वे अपने आगे किसी देश को इतना शक्तिशाली नहीं मानते जो ताकत की बदौलत उनके समान अधिकार हासिल कर सके और यह सच्चाई है, इसलिए उनका मानना जायज है। संयुक्त राष्ट्र में परमाणु ही नहीं आर्थिक महाशक्ति का भी बोलबाला है, जहां अमेरिका के आगे सब नतमस्तक हैं। 1945 में तत्कालीन सोवियत संघ समेत सभी विजेता देशों ने अंतर्राष्ट्रीय शांति की सामूहिक जिम्मेदारी ली थी और आज शांति अमेरिकी शर्तों पर जबरन थोपी जा रही है। संयुक्त राष्ट्र सही मायने में विश्व मंच रह गया है या नहीं, इस पर आए दिन मंथन होता रहता है। ऐसे में अगर स्थायी सदस्यता मिल भी जाए तो भी अमेरिका की किसी कार्रवाई में अड़ंगा लगाना संभव नहीं हो पाएगा। फिलस्तीन, इराक, अफगानिस्तान के मामले में सारे स्थायी सदस्य मूकदर्शक क्यों बने रहे? मतभेद के बावजूद कोई एक-दूसरे की मनमानी रोक नहीं पाता, जिसमें अमेरिका नंबर वन चल रहा है। भारत समेत गरीब देश पहले तय तो कर लें कि अपने दावों को जोरदार ढंग से प्रस्तुत करने के लिए उन्हें अमेरिका का पछल्ला पकड़ना चाहिए या नहीं।